# जिनागमों की भाषा : नाम और स्वरूप

## डॉ. के. आर. चन्द्र

जिनागमों की मूलभाषा अर्द्धमागधी है। अर्द्धमागधी में ही तीर्थंकर महावीर ने प्रवचन किए थे। गणधरों एवं स्थविरों ने भी अर्द्धमागधी में ही इन आगमों को ग्रथित किया था। किन्तु अर्द्धमागधी प्राकृत व्याकरण की अनभिज्ञता, क्षेत्र विशेष के प्रभाव, महाराष्ट्री प्राकृत के उपलब्ध व्याकरण के अभ्यास आदि विभिन्न कारणों से अर्द्धमागधी आगमों का सम्पादन करते/प्रतिलिपि करते समय महाराष्ट्री आदि प्राकृतों का प्रभाव आ गया। प्राकृत भाषा एवं व्याकरण के सम्प्रति विश्वप्रसिद्ध विद्वान डॉ. के.आर.चन्द्र ने जिनागमों में हुए परिवर्तन विषयक यह अपना आलेख पाठकों को उपलब्ध कराया है। लेखक ने आगमों के विभिन्न संस्करणों की तुलना करते हुए अर्द्धमागधी के प्राचीन रूप को सिद्ध कर उसे स्वीकार करने की प्रेरणा भी की है। **—सम्पादक**

---

जिनागमों में उस जैन आगम-साहित्य (ई. सन् पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ई. सन् ५वीं शताब्दी तक) का समावेश होता है जो श्वेताम्बर जैनों द्वारा रचा गया है और जो दिगम्बर सम्प्रदाय को मान्य नहीं है। इसे ही जैन आगम-साहित्य की संज्ञा दी गई है।[१] दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के प्राचीनतम साहित्य (ई. सन् प्रथम शताब्दी से लगाकर आगे की शताब्दियों तक) को दिगम्बर सम्प्रदाय के 'प्राचीन शास्त्र' की संज्ञा दी गयी है।[२] इसकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है जबकि श्वेताम्बर मान्य जिनागमों की भाषा को अर्धमागधी के नाम से जाना जाता है। इस नाम में जो मागधी शब्द है उसका विशेष महत्त्व है। उसे अर्धशौरसेनी या अर्धमहाराष्ट्री क्यों नहीं कहा गया? अर्धमागधी शब्द में मागधी प्रमुख शब्द है और अर्ध उसका विशेषण है अर्थात् पूर्णतः मागधी नहीं, परंतु आधी मागधी और आधी अन्य भाषा या बोलियाँ जो मगध देश के आस-पास के क्षेत्रों में उस समय बोली जाती थी। कुछ विद्वान ऐसा भी मानते हैं कि यह अर्धमागध देश की भाषा थी। यह कौन सा प्रदेश हो सकता है— क्या गंगा नदी के दक्षिण बिहार का आजकल का प्रदेश? इसी मगध देश के आस-पास के पड़ौसी राज्यों (प्रदेशों) की बोलियों का अर्धमागधी में समावेश माना जाय (जो उचित भी लगता है जैसाकि भगवान् महावीर के विहार के स्थलों से मालूम होता है) तो इसमें गंगानदी के उत्तर में पूर्व की दिशा में तो इसमें लिच्छवियों का विदेह (दरभंगा), अंग राज्य, भागलपुर, मौर, पश्चिम में कोसल (अयोध्या जिसकी राजधानी थी, पुराना नाम साकेत भी था) और आधुनिक बंगाल (बंग देश का लाढ प्रदेश) और उड़ीसा कलिंग का कुछ भाग सम्मिलित किया जा सकता है। इन सभी प्रदेशों की बोलियों का किसी न किसी अंश में मूल मागधी पर प्रभाव होने के कारण उसे अर्धमागधी कहा गया हो, ऐसा भाषाशास्त्र के नियमों से प्रतीत होता है। मागधी भाषा के मूल लक्षण पुल्लिंग अकारान्त प्रथम एकवचन की विभक्ति 'ए' के साथ-साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य प्रदेशों की–ओ विभक्ति; र=ल के साथ-साथ र का र ही मिलना; सप्तमी विभक्ति ए.व. की–अंसि के साथ–साथ 'ए' विभक्ति, मागधी में तीनों ऊष्म व्यंजनों के स्थान पर 'श' का आदेश है, परंतु अर्धमागधी में सर्वत्र 'श, ष'= 'स' ही मिलता है (अशोक के पूर्वी भारत के शिलालेखों की भाषा की भी यही स्थिति है, उनमें 'श' कार नहीं मिल रहा है। हो सकता है कि बोलने में 'श' कार बोला जाता हो, परंतु लिखने में 'स' कार ही लिखा जाता हो।) आज भी पूर्वी उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल में 'स' के स्थान पर 'श' का उच्चारण अधिक मात्रा में किया जाता है। भ. बुद्ध की पालि भाषा का प्रदेश भी लगभग वही था जो भ. महावीर का था, परंतु उनके त्रिपिटक की पालि भाषा में भी 'श' कार नहीं मिलता है। यही अवस्था दोनों भाषाओं में 'ष' कार की भी है। उसके बदले में सर्वत्र 'स' कार ही मिलता है जैसाकि अशोक के पूर्वी भारत के शिलालेखों में पाया जाता है। खारवेल के हाथीगुंफा के कलिंग (उड़ीसा) और मथुरा के लेखों में भी सर्वत्र 'सकार' ही पाया जाता है। ये ही विशेषताएँ हैं जिनके कारण भ. महावीर के उपदेशों की भाषा को 'अर्धमागधी' कहा गया है।

सभी अर्धमागधी आगम ग्रंथ एक ही काल की रचनाएँ नहीं मानी गयी हैं, परंतु कुछ रचनाएँ और कतिपय रचनाओं में जो-जो प्राचीन अंश मिलते हैं, उनकी भाषा का स्वरूप पालि भाषा के समान ही होना चाहिए था, परंतु सर्वत्र ऐसा नहीं पाया जाता है। उदाहरण के लिए 'आचारांग' का प्रथम श्रुत स्कंध सभी आगम-ग्रंथों में प्राचीनतम रचना है जिसकी भाषा, शैली और विषयवस्तु से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है, परंतु इसकी भाषा भी अल्पांश में अन्य आगम ग्रंथों की तरह महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुई है। मौखिक परंपरा और जैन धर्म के प्रसार के दरम्यान जैनों के बदलते हुए केन्द्र स्थलों (पूर्व में राजगृह, पाटलिपुत्र, वैशाली से मथुरा की तरफ और वहां से फिर वलभी (गुजरात) के कारण उन-उन प्रदेशों की भाषाओं का मिश्रण उसमें होता गया और आगमों का एक भी संस्करण मात्र शुद्ध (या प्राचीन) अर्धमागधी में उपलब्ध नहीं है। आगमों की अन्तिम (तीसरी) वाचना वलभीपुर में छठी शताब्दी के प्रारंभ में हुई और उस समय आगमों को लिपिबद्ध किया गया था, परंतु अद्यावधि सभी हस्तप्रतों में भी भाषा का स्वरूप एक समान नहीं मिल रहा है, चाहे वे ताड़पत्र की या कागज की प्रतें हों अथवा प्राचीन या पश्चकालीन प्रतें ही क्यों न हों?[3] इसका मुख्य कारण यह रहा है कि प्रारंभ से ही उपदेशों की विषयवस्तु पर अत्यधिक भार था न कि भाषा पर, जैसा कि वैदिक परम्परा में पाया जाता है। पालि भाषा को लंका में ई. सन् के पूर्व लगभग प्रथम शताब्दी में ही लिपिबद्ध कर दिया गया था और उसका सरंक्षण भी वहां पर ही होने के कारण उसमें किसी प्रकार का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिवर्तन नहीं आ सका।

आगमों की अर्धमागधी तो महाराष्ट्री प्राकृत से इतनी प्रभावित हुई है कि इसका मूल स्वरूप भी निश्चित करना बहुत दुष्कर हो गया है। आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी को तो ऐसा कहने को बाध्य होना पड़ा कि आगमों की मूल भाषा में बड़ा ही परिवर्तन आ गया है। मूल भाषा खिचड़ी ही बन गयी है।[8]

अब हमें यह दर्शाना है कि मौलिक अर्धमागधी में मध्यवर्ती व्यंजनों की ध्वनि-परिवर्तन संबंधी क्या अवस्था थी। सर्वप्रथम तो यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि किसी भी प्राकृत व्याकरणकार ने अर्धमागधी प्राकृत को कोई विशेष स्थान (अपने-अपने प्राकृत व्याकरण में) नहीं दिया है। सभी ने महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची, चूलिका और हेमचन्द्राचार्य ने अपभ्रंश के भी नियम दिये हैं। हेमचन्द्राचार्य स्वयं जैन थे, उन्हें जिनागमों का विशेष ज्ञान भी था, परंतु उन्होंने भी मध्यवर्ती व्यंजनों के ध्वनि-परिवर्तन संबंधी विशेष तौर पर कुछ भी नहीं लिखा है, यह एक बड़े ही आश्चर्य की बात है। उन्होंने इसे 'आर्ष' भाषा अवश्य कहा है और इसमें सभी विधियां लागू होती हैं—ऐसा कहकर के इस आर्ष भाषा को उन्होंने बड़ी ही स्वतन्त्रता दे दी। कहां पालि भाषा, अशोक के शिलालेखों, हाथी गुंफा और मथुरा के लेखों की भाषा और कहाँ यह अनियमित आर्ष—अर्धमागधी भाषा? उन्होंने आर्ष भाषा के दो मुख्य लक्षण अवश्य दिये हैं— १. पुं. अकारान्त की प्रथमा एक वचन की विभक्ति—ए और र कार का लकार हो जाना। इसके सिवाय जगह-जगह पर मूलसूत्रों की वृत्ति में आर्ष की कुछ विशेषताएं दर्शायी गयी हैं, परंतु शब्दों के मध्यवर्ती व्यंजनों के लिए तो महाराष्ट्री प्राकृत के नियम ही लागू होते हों ऐसा उनके प्राकृत व्याकरण के नियमों से स्पष्ट ही प्रतीत होता है।

प्राचीन अर्धमागधी ग्रंथों में भूतकाल (सामान्य भूत, अनद्यतन भूत और परोक्ष भूत) के प्रत्ययों वाले प्रयोग कहीं-कहीं पर अल्पांश में मिलते हैं।

हेत्वर्थक कृदन्त के लिए वैदिक परंपरा से प्राप्त—'त्तए—इत्तए,—एत्तए (संस्कृत —तवे, तवै, —त्वायै) प्रत्यय वाले प्रयोग बार-बार मिलते हैं जो अन्य प्राकृतों में मिलते ही नहीं हैं।''[5] पालि में भी यह प्रत्यय नहीं मिलता है। इस दृष्टि से पालि की अपेक्षा अर्धमागधी में भाषा की प्राचीनता सुरक्षित रही है।

अब जो मुख्य मुद्दा अर्धमागधी के लिए ध्यान देने योग्य है वह है शब्दों में मध्यवर्ती व्यंजनों की अनेक प्रयोगों में यथावत् स्थिति जो उसके लिए शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत से सर्वथा एक भिन्न भाषा होने का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वप्रथम तो यह ज्ञातव्य होना चाहिए कि हमारे मध्यकालीन प्राकृत व्याकरणकारों ने अर्धमागधी के लिए कोई विशिष्ट व्याकरण ही नहीं लिखे जिसके कारण महाराष्ट्री प्राकृत के मध्यवर्ती व्यंजनों के परिवर्तन के जो नियम थे वे ही नियम अर्धमागधी प्राकृत पर भी लागू कर दिये गये। आगमों की हस्तप्रतों (प्राचीन और अर्वाचीन) में जहां-जहां पर भी पालि के समान प्रयोग (मध्यवर्ती व्यंजनों में ध्वनिपरिवर्तन नहीं होने के पाठ ) मिलते थे, उन्हें क्षतियुक्त मानकर उनके बदले में महाराष्ट्री की शब्दावली को ही अपनाया जाने लगा। उदाहरण के लिए देखिए प्रो. हर्मन याकोबी के और शुब्रिंग के आगमों में प्राचीनतम माने जाने वाले आचारांग के प्रथम श्रुत स्कंध के संस्करण के कतिपय पाठ—

| **अध्याय का पेरा नं.** | **याकोबी के पाठ लंडन 1882 ए.डी.** | **शुब्रिंग के पाठ लिप्जिग 1910** |
|---|---|---|
| | | (—त्—) |
| १.२.३.२ | अकुतोभयं | अकुओभयं |
| १.४.४.१ | परितावं | परियावं |
| १.१.५.७ | एते | एए |
| १.५.५.१ | सव्वतो | सव्वओ |
| १.२.३.५ | अवहरति | अवहरइ |
| १.२.१.३ | वेदेति | वेदेइ |
| | | (—द्—) |
| १.९.४.१ | ओमोदरियं | ओमोयरियं |
| १.४.३.१ | धम्मविदु | धम्मविउ |
| १.१.६.१ | पवाद | पवाय |
| १.२.१.३ | वेदेति | वेएइ |
| १.९.१.१ | वदिस्सामि | वइस्सामि |
| १.१.६.२ | विदित्ता | विइत्ता |
| १.१.६.३ | समादाय | समायाय |
| | | (—ध्—) |
| १.७.१.३ | असाधू | असाहू |
| १.१.५.२ | अधं | अहं |
| १.९.२.१५ | अधोवियडे | अहेवियडे |

अब हम नीचे पिशल के 'प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' और महावीर जैन विद्यालय, बंबई के संस्करण के पाठ भी दे रहे हैं—

| **पिशल** | **शुब्रिंग** | **पिशल** | **म.जै. विद्यालय** |
|---|---|---|---|
| | (त्) | | |
| आतुर | आउरे | आउर | आतुर |
| पभिति | पभिइ | पभिइ | पभिति |
| ततिय | तइय | तइय | ततिय |

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| | | | |
|---|---|---|---|
| मतिमं | मइमं | मइमं | मतिमं |
| | (ध्) | | |
| मेधावी | मेहावी | मेहावी | मेधावी |

(नाम, सर्वनाम, काल एवं कृदन्त रूप)

(—त—, —द्—)

| | | | |
|---|---|---|---|
| भगव**ता** | भगवया | भगवया | भगवता |
| त**तो** | तओ | तओ | ततो |
| परि**ता**वेंति | परियावेंति | परियावेंति | परितावेंति |
| भव**ति** | भवइ | भवइ | भवति |
| सुणे**ति** | सुणेइ | सुणेइ | सुणेति |
| ना**तं** | नायं | नायं | णातं |
| पवे**दि**तं | पवेइयं | पवेइयं | पवेदितं |
| रुदं**ति** | रुयंति | रुवइ | रुदंति |
| व**द्**ति | वयंति | वयंति | वदंति |
| व**दि**स्सामि | वइस्सामि | वइस्सामि | वदिस्सामि |

इन प्रयोगों से पता चलता है कि प्रो. याकोबी महोदय ने हस्तप्रतों में प्राप्त पाठों को बदला नहीं हैं और जो-जो पाठ पालि भाषा से साम्य रखते थे उन्हें भी उसी रूप में अपनाया है न कि उन्हें महाराष्ट्री प्राकृत भाषा के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। इसीलिए उन्होंने जैन प्राकृत (अर्थात् अर्धमागधी) के मूल पाठों को जहां पर भी उपलब्ध हो रहे हैं उन्हें भाषिक दृष्टि से यथावत् रखा है, परंतु शुब्रिंग महोदय ने उनके सामने याकोबी का आचारांग का संस्करण (१८८२ ए.डी.) विद्यमान होते हुए भी अपने (१९१० ए.डी.) के संस्करण में पालि के समान अर्धमागधी के पाठों को महाराष्ट्री में बदल डाला, जबकि उनको तो याकोबी से भी अधिक मात्रा में हस्तप्रतें, चूर्णीग्रंथ, टीका ग्रंथ इत्यादि प्राप्त हुए थे। श्री महावीर जैन विद्यालय के आगमों का संस्करण भी याकोबी के संपादन की पद्धति की पुष्टि कर रहा है। शुब्रिंग महोदय ने प्राकृत व्याकरणकारों के महाराष्ट्री भाषा के ध्वनि परिवर्तन (मध्यवर्ती व्यंजन संबंधी) के नियमों का अक्षरशः पालन/अनुसरण किया है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

प्रो. शुब्रिंग महोदय ने 'इसिभासियाइं[६]=ऋषिभाषितानि'' का भी संपादन किया है जो उनके द्वारा भी एक प्राचीन आगम ग्रन्थ माना गया है। परंतु उसमें अर्धमागधी शब्द प्रयोगों को सर्वत्र महाराष्ट्री प्राकृत में नहीं बदला है।[७] इस प्रकार के कितने ही प्रयोग उसमें मिलते हैं जिनमें से कतिपय प्रयोग नीचे दिये जा रहे हैं जो शुब्रिंग महोदय के आचारांग भाग—१ में कहीं पर भी नहीं मिलेंगे, जबकि प्रो. याकोबी के आचारांग में यत्र-तत्र अनेक बार प्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो रहे हैं। प्रो. याकोबी द्वारा प्रयुक्त कुछ और विशेष प्रयोग नीचे दिये जा रहे हैं जो संपादन की दृष्टि से विशिष्ट प्रकार के हैं।

यह तुलना ऐसे प्रयोगों की है जिनमें व्यंजनों को याकोबी ने टेढा (italicise) किया है और उन्हें इस प्रकार समझाया गया है कि प्राचीन ताड़पत्र की प्रतों में मध्यवर्ती व्यंजन यथावत् पाये जाते हैं, परंतु उत्तरकालीन कागज की प्रतों में उनमें महाराष्ट्री प्राकृत के नियमों के अनुसार ध्वनि परिवर्तन ('लोप' और 'ह') कर दिया गया है। शुब्रिंग महोदय के सामने २८ वर्ष पुराना याकोबी का संस्करण था और उन्होंने याकोबी की तुलना में मूल ग्रंथ की अन्य हस्तप्रतें भी प्राप्त की थीं, चूर्णी और वृत्तियों का भी उपयोग किया था, तब फिर भाषा के प्राचीन रूपों को क्यों बदल डाला? होना तो ऐसा चाहिए था, कि याकोबी के सिवाय उपयोग में ली गयी अन्य प्रतों में जहां-जहां पर भी भाषिक दृष्टि से प्राचीन पाठ (पालि के समान) मिलते थे उन्हें स्वीकार करके संशोधन की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना था, परंतु इसके बदले में उन्होंने अर्धमागधी की शब्दावली को पूर्णतः महाराष्ट्री में बदल दिया। जब उन्होंने 'इसिभासियाइं' का सम्पादन किया तो उसमें भी अनेक स्थलों पर मिल रहे मौलिक प्रयोग वैसे ही रखे, उन्हें आचारांग की तरह क्यों नहीं बदला और न ही बाद में इस विषय संबंधी कोई स्पष्टीकरण ही प्रकाशित किया। इसका क्या कारण माना जाना चाहिए? प्रमाद या शैथिल्य या अज्ञानता या अवहेलना?

प्रो. याकोबी के द्वारा स्वीकृत इस प्रकार के प्रयोगों की विपुलता में से कुछ उदाहरण तुलनात्मक दृष्टि से देखिए–

| | **याकोबी** | **शुब्रिंग** | **पिशल** | **तुलनात्मक प्राकृत व्याकरण का पेरेग्राफ** | |
|---|---|---|---|---|---|
| १.१.१.२ | अन्न**त**रीओ | अन्नयरीओ | अन्नयरीओ | ४३३ | |
| १.५.१.१ | अविजाण**तो** | अविजाणओ | अविजाणओ | ३९८ | |
| १.२.१.३ | जीवि**ते** | | जीविए | जीविए | ३५७ |
| १.१.१.२ | **नातं** | नायं | नायं | ३४९ | |
| १.२.१.१ | **धूता** | धूया | धूया | ९३ | |
| १.१.५.३ | पवुच्च**ति** | पवुच्चइ | पवुच्चइ | ५४४ | |
| १.२.१.१ | पि**ता** | पिया | पिया | ३९१ | |
| १.१.५.३ | मुच्च**ति** | मुच्चइ | मुच्चइ | ५६१ | |
| १.१.५.४ | विहिंस**ति** | विहिंसइ | विहिंसइ | ५०७ | |
| १.६.५.४ | व**दं**ति | वयंति | वयन्ति | ४८८ | |

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रो. शुब्रिंग महोदय ने और उनके पूर्व प्रो. पिशल महोदय ने अर्धमागधी प्राकृत के मध्यवर्ती व्यंजनों में परिवर्तन करके या हस्तप्रतों में से ऐसा पाठ स्वीकार करके अर्धमागधी प्राकृत के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वत्तायुक्त सहानुभूति पूर्वक व्यवहार नहीं किया है। प्रतियों में उपलब्ध मूल अर्धमागधी के पाठों के बदले में उपलब्ध विकृत पाठों को महत्त्व देकर महाराष्ट्री प्राकृत के नियमों को (ध्वनि परिवर्तन संबंधी) ही अर्धमागधी के लिए भी उपयुक्त होने का कृत्रिम उपक्रम किया है। ऐसी अवस्था में पिशल महोदय के द्वारा अर्धमागधी के विषय में दिये गये ध्वनि परिवर्तन संबंधी नियमों को बदलने की अनिवार्यता बन जाती है। भावी भाषा विद्वानों से यह विनति है कि वे इस कार्य को पूरा (शुद्ध) करने में अपनी विद्वत्ता का सदुपयोग करने की कृपापूर्वक हिम्मत करें और अति धीरज के साथ परिश्रम करें एवं भाषा का मूल स्वरूप प्रस्थापित करें।

आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी को ही यह श्रेय मिलता है कि उन्होंने अर्धमागधी के मौलिक स्वरूप में किस प्रकार कितना परिवर्तन या कितनी विकृति आयी उसे आज से पचास वर्ष पूर्व हमारे सामने प्रस्तुत करके इस दिशा में संशोधन करने की प्रवृत्ति को मार्गदर्शन दिया।[१०]

इस चर्चा से स्पष्ट हो रहा है कि मूल अर्धमागधी (भ. महावीर की वाणी) पालि भाषा से मिलती जुलती थी, परंतु परवर्ती कालक्रम में इसका स्वरूप बदल गया या बदल दिया गया।

अब हम कुछ अन्य आगम ग्रंथों के अन्तर्गत पाये जाने वाले अर्धमागधी के पालि भाषा के समान मूल पाठों का भी अवलोकन करेंगे।

'सूत्रकृतांग' द्वितीय अंग एवं द्वितीय आगम ग्रंथ है और वह भी एक प्राचीन रचना है। इसी प्रकार 'दशवैकालिक' भी प्राचीन कोटि का माना जाता है। इधर उन ग्रंथों, उनकी चूर्णियों-वृत्तियों इत्यादि में उपलब्ध होने वाले वे पाठ दिये जा रहे हैं जिन पर महाराष्ट्री प्राकृत के नियम सामान्यत: सर्वत्र नहीं लगाये जा सकते हैं। वे शब्द प्रयोग इस प्रकार हैं और उनके सामने उनके संस्करणों का संकेत कर दिया गया है। यह विवरण मध्यवर्ती व्यंजनों से संबंधित है।

—क्— एकओ[११] (सूत्रकृ. १.१.१.१८); एके (१.१.१.९)
एकओ[१२] (सू.कृ. पुण्यवि. १.१.१.१८)
—ग्— आगता (१.१.१.१६), मिगा (१.१.२.१३)
—च्— आचरंति (१.२.३.२३)
—ज्— विजिउं[१३] (दशवैकालिक के खं.३ नामक प्रति में पाठान्तर)
—त्— जीवितं {सू.कृ. की (१.१.१.५) चूर्णी[१४] में प्राप्त पाठान्तर}
नियती(१.१.१.१६)[१५]
महब्भूता (सू.कृ. पुण्यवि. १.१.१.७)
सत्थोवपातिया(१.१.१.११)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सासते (१.१.१.१५)

एतं (१.१.१.५ एवं पुण्यवि. १.१.१.१९)

इतो (१.१.१.१२)

कुतो (सू.कृ. एवं पुण्यवि. १.१.२.१७)

ततो {सू.कृ. एवं पुण्यवि(१.१.२.२७)}

आगता(१.१.१.१६),आहिता(१.१.१.२०),पुण्यवि.(१.१.७,८,१५, १६)

कीरति (१.१.२.२७)

होति (१.१.१.१२)

—प्— सन्तोवपातिया (१.१.१.११)

नायपुत्ते (१.१.१.२७)

—थ्— जथा (यथा) पुण्यवि. (१.१.१.९), यहां पर 'थ' यथावत् मिल रहा है।

—थ्[१६]——ध— अध (सूत्रकृ. के पाठान्तरों में उसकी चूर्णी का पाठ १.१.१.८), पुण्यवि. (१.१.२.८,२४) अतधं ( पुण्यवि. १.१.२.२९)

जधा (यथा) (१.१.२.१८), पुण्यवि. (१.१.२.६,१८,२२,३१)

—ध्— अधे (सूत्रकृतांग चूर्णी का पाठ ५.१.११, १०.२ )

मेधावी[१७] (दशवै. अगस्त्यसिंह चूर्णी, ५.२.४२, ९.१.१७), हस्तप्रत खं.४ में ९.३.१४)

ज्ञ्, न्न्, न्य्, का न्न् में बदलना ई. सन् पूर्व की ही प्रवृत्ति थी। ई. सन् के पश्चात् के काल में इन तीनों का 'ण्ण' में भी परिवर्तन होने लगा जो मूलत: अर्धमागधी में भी प्रविष्ट हुआ है (इसके लिए देखिए अशोक, खारवेल और मथुरा के लेखों की भाषा)। परवर्ती काल में तो यह एक मुख्य प्रवृत्ति ही हो गयी है और प्राय: सर्वत्र मूर्धन्य 'ण्ण' ही मिलेगा।

**—ज्ञ्— =—न्न्—**

नाणं (ज्ञानम् १.१.२.१६)

नायपुत्ते (ज्ञातृपुत्र: १.१.१.२७)

**—न्न्—=—न्न्—**

अन्नं (१.१.१.२)

आवन्ना (आपन्ना १.१.१.१९)

समुप्पन्ने (समुत्पन्न: १.१.१.४)

**—न्य्—=—न्न्—**

अणन्नो (अनन्य: १.१.१.१७)

अन्नं (अन्यम् १.१.१.४,१७, दशवै. ४.१०.११)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्नेहिं (अन्यैः १.१.१.४)
अन्नो (अन्यः १.१.१.१७)

ये सभी प्रयोग उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं और ये तो मात्र सूत्रकृतांग के प्रारंभ के प्रथम अध्ययन में से ही उद्धृत किये गये हैं। इस विधि से यदि इस ग्रंथ के सभी अध्यायों में से अर्धमागधी के प्राचीन प्रयोग उद्धृत किये जाय तो उनकी संख्या कितनी बड़ी होगी और इसके सिवाय अन्य प्राचीन आगम ग्रंथों या उनके प्राचीन अंशों में से भी ऐसे ही भाषिक दृष्टि से अपरिवर्तित प्रयोगों के उद्धरण प्रस्तुत किये जाय तो अर्धमागधी प्राकृत का मूल स्वरूप कितना स्पष्ट हो जाएगा।

इसी संदर्भ में हमने अपने 'प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण', द्वितीय संस्करण के अन्त में अर्धमागधी भाषा विषयक नयी विशेषताओं का परिशिष्ट (अध्याय) जोड़ा है जिसमें व्याकरण के कुछ नये नियम दिये गये हैं और 'इसिभासियाइं' में उपलब्ध हो रहे पालि के समान शब्द रूपों की मध्यवर्ती व्यंजनानुसार तालिका भी जोड़ी है। उसी में से कतिपय प्रयोग चुनकर यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे पालि भाषा और अर्धमागधी भाषा कितनी समानता और निकटता रखती है यह स्पष्ट हो जाएगा।

'इसिभासियाइं' के उदाहरण रूप कुछ प्रयोग—

—क्— अणेक, अन्धकार, आकुल, उलूक, एकन्त, परलोक, विपाक, सिलोक।
—ग— उरग, जोग, पयोग, परिभोग, मिग, राग, संजोग, सोभाग।
—च— अचलं, अचिरेणं, बम्भचारी, सुचिरं
—ज— तेजसा, परिजण, भोजणं, महाराज, विजाणति, सहजा।
—त— अति, आतुर, एतं, कुतूहलं, गति, जीवितातो, ततियं, दुम्मति, नीति, पितर, माता, विपरीत, सासत, हेतु, अरहता, अंकुरातो, इतो, ततो, सव्वतो, आगच्छति, खादति, देति, भवति, लभति, हणति, हसति, कुरुते, चरते, वदतु, साहेतुं, आहत, भासित, हारित।
—द्— आदि, उच्छेद, उदय, उपदेस, खादति, छेद, नारद, पमाद, वदति, विसाद, सदा, संपदा, हिदय।
—न— अनल, अंगना, अनुवत्त, वनदपादव
—प— अपि, उपदेस, रिपु, विपरीत, विपुल
—य— आयुध, ततिय , पयोग, पिय, हिदय
—ख—सुखेण
—घ— लाघवं, लाघवो, विणिघात
—थ— सारथी
—ध— अधर, अनिरोधी, असाधु, ओसध, कोध, दधि, बहुधा, मधु, विविध,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि, साधारण
—भ— अभि— असुभ, दुल्लभ, पभा, लोभ, विभूसण, सुभ, सोभाग।

महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा संपादित आचारांग के संस्करण में इसी प्रकार के अनेक पाठ (प्रयोग) मिलते हैं जिनमें न तो मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजन का लोप है और न ही मध्यवर्ती महाप्राण व्यंजन का 'ह' में परिवर्तन है। मूल दन्त्य 'न' प्रारंभ में अधिक मात्रा में और मध्य में कभी-कभी मिल रहा है (मध्यवर्ती दन्त्य 'न्' को मूर्धन्य 'ण्' में बदलने की परम्परा ई. सन् के बाद की है। भ. महावीर और भ. बुद्ध तथा अशोक के शिलालेख, तीसरी शताब्दी ई. सन् पूर्व, खारवेल के प्रथम शताब्दी ई. सन् पूर्व या मथुरा के ईस्वी सन् पूर्व और उसके पश्चात् की एक दो शतियों के लेखों में यह प्रवृत्ति नहीं चल पड़ी थी। इसके सिवाय उन सबमें 'ज्ञ, न्न, न्य्' का 'न्न' ही मिलता है। उनके बदले में 'ण्ण' के प्रयोग ने तो ई. सन् के प्रचलित होने के पश्चात् के काल में प्रधानता प्राप्त की है और वह भी महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव में आकर पश्चिमी भारत की लाक्षणिकता को अपनाया गया है।

इस तथ्य शोधन (Fact finding archaic elements) के बारे में अंत में साररूप दिये गये मन्तव्य को देखिए।[१८]

**पाद टिप्पण**

१. देखिए "प्राकृत साहित्य का इतिहास", डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी—१, १९६१, पृ. ३३
२. वही, पृ. २६९
३. देखिए मेरी पुस्तक Restoration of the Original Language of Ardhamagadhi Texts: Prakrit Jain Vidya Vikas Fund, Vol.10, Ahmedabad, 1994
४. देखिए कल्पसूत्र की प्रस्तावना गुजराती (पृ.३ से १५): साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, १९५२ एवं मेरी पुस्तक 'आचारांग प्रथम श्रुत स्कंध', प्रथम अध्ययन, प्रा. जै. वि. वि. फंड, अहमदाबाद, १९९७ के प्रारंभ के पृष्ठ xviii से xxv (ग्रंथाक १३)। मुनि श्री पुण्यविजयजी के द्वारा की गयी समीक्षा के मुख्य मुद्दे ये हैं—

"भाषा और पाठों की दृष्टि से प्रतियों में बड़ी ही समविषमता है। अशुद्ध पाठों के विषय में तो कहना ही क्या? चूर्णिकार और टीकाकारों ने कैसे पाठ और आदर्शों को अपनाया था ऐसा दर्शाने वाली आदर्श प्रतियां भी हमारे सामने नहीं हैं। इसी कारण आगमों की भाषा के बारे में भाषा शास्त्रीय विद्वानों (पाश्चात्त्य और भारतीय) ने जो कितने ही निर्णय लेकर प्रस्तुत किये हैं उन्हें मान्य रखना योग्य नहीं माना जा सकता। जर्मन विद्वान् प्रो. डॉ. एल. आल्सडर्फ ने भी जैसलमेर (राजस्थान) में यह देखकर मुझे कहा था कि 'इस विषय में पुनः गंभीर विचार करने की आवश्यकता है"। मध्यवर्ती व्यंजनों का विकार जिस प्रमाण में आधुनिक संस्करणों में मिलता है उतने प्रमाण में मौलिक अर्धमागधी में नहीं था। आचार्यों ने जानबूझकर समय-समय पर मूल पाठों को (भाषिक दृष्टि से) बदल डाला है। इसी कारण जैन आगमों की मूल भाषा में बड़ा ही परिवर्तन आ गया और अब "जैन आगमों की मूल भाषा कैसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थी'' उसे खोज निकालने का कार्य दुष्कर हो गया है। यह परिवर्तन मूल ग्रंथों तक ही सीमित नहीं रहा, परंतु भाष्यों और चूर्णियों में भी यह परिवर्तन प्रवेश कर गया है। उन्होंने तो जैन मुनिवरों से सविनय प्रार्थना भी की है कि जैन आगमों और उनके व्याख्या ग्रंथों की भाषा के वास्तविक अध्ययन और संशोधन करने वालों को प्राकृत आदि भाषाओं के गंभीर ज्ञान के लिए परिश्रम करना चाहिए। इस कार्य के लिए आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य का 'प्राकृत व्याकरण' ही पर्याप्त नहीं है, वह तो प्राकृत भाषा की एक बालपोथी के समान है। साथ ही प्राचीन लिपि शास्त्र का उत्कृष्ट ज्ञान और लिपि दोषों के ज्ञान की भी उतनी ही आवश्यकता है।''

आगमों के गहन अध्येता और बहुश्रुत संशोधक के उपर्युक्त मन्तव्य जैन संघ-नायकों और पंडितों तथा जैन विद्वानों के लिए कितने मार्मिक हैं इसे शान्त मन से बुद्धिपूर्वक ध्यान में लेने की अपरिवार्य आवश्यकता है।

५. (i) पालि भाषा में अकारान्त पु.प्र.ए.व. के लिए–ए प्रत्यय, हेत्वर्थक के लिए वैदिक प्रत्यय, त्तए, इत्तए, सप्तमी एक वचन के लिए– अंसि (अशोक के शिलालेखों का–सि(=स्सि) प्रत्यय और 'र' कार का 'ल' कार नहीं मिलते हैं। इस दृष्टि से अर्धमागधी प्राकृत में पालि भाषा की अपेक्षा से प्राचीन तत्त्व विद्यमान रह गये हैं, यह भी एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा ध्यान देने योग्य है। मूल पालि भाषा भी संस्कृत से बहुत अधिक प्रभावित हो गयी और वह अपने उद्‌गम स्थल की विशिष्ट लाक्षणिताएँ सुरक्षित नहीं रख सकी।
(ii) हेमचन्द्राचार्य ने तो अर्धमागधी का वैदिक–'इत्तए' प्रत्यय का उल्लेख भी नहीं किया है।

६. 'Isibhasiyaim', ed. Walther Schubring, (in German in the Roman Script), inzuden Nachrikhten der Academic der Wissens chaften Gottingen, 1942, pp. 489-576. The same text re-edited both the original Roman Script and in the Devanagari Script was republished by the L.D. Institute of Indology, Ahmedabad-380009 (India) by Prof. Dalsukhbhai Malvania in 1974. It is known as a 'प्राचीन जैन आगम' (an ancient jain Canonical work). One would find a lot of disparity between the language of the Acaranga and the Isibhasiyaim, both edited by the same author, i.e. prof. Schubring. It was published first of all 32 years after the edition of Acaranga (1910 A.D.). No doubt we have immense respect and honour for the pioneer like prof. Schubring in the field of Jain Studies but when there was so much disparity between the language of the Acaranga and Isibhasiyaim, the later being also an ancient composition like the Acaranga then why did he not consider it worthwhile to throw fresh light on the archaic nature of Ardhamagadhi, phonologically resembling pali and ancient inscriptions of Ashoka, Kharavela and Mathura. In this respect he has not been very careful and particular and now it seems that he has avoided the topic of the language (Amg.) of Acaranga, which is an archaic prakrit in comparision with all the other prakrits.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. देखिए 'इसिभासियाइं का प्राकृत–संस्कृत शब्दकोश,' के.आर. चन्द्र, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद १९९८

८. इस पद्धति से यह निर्विवाद प्रमाणित होता है कि प्राचीन प्रतियों में मध्यवर्ती व्यंजन लगभग पालि भाषा की तरह ही यथावत् पाये जाते थे, परंतु परवर्ती काल की प्रतियों में महाराष्ट्री प्राकृत (ध्वनि परिवर्तन) के नियमों को लागू करके उनका (अल्पप्राण का) लोप और (महाप्राण का) 'ह' कर दिया गया। यह सब प्रक्रिया/परिवर्तन आचार्यों, उपाध्यायों और टीकाकारों के मार्गदर्शन में ही हुआ है, जैसा कि आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी का मन्तव्य है जो आगम साहित्य के गहन अध्येता और अद्वितीय संशोधक माने जाते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन लेहियों (लिपिकारों) के द्वारा ही नहीं किये गये हैं और मात्र उनको ही यह दोष देना सर्वथा अयोग्य गिना जाना चाहिए। लिपिकार आगमों और उनकी भाषा के विद्वान नहीं थे। विद्वान् तो जैनाचार्य, उपाध्याय और मुनिगण थे और वे ही भगवान महावीर के उपदेशों की मूल भाषा सुरक्षित नहीं रख सके। इसे क्या कहा जाय 'प्रमाद' या 'व्यावहारिक कुशलता'? परिस्थितिवश इस प्रकार के भाषिक परिवर्तन आ गये होंगे, परंतु इन परिवर्तनों से भगवान महावीर की मूल भाषा विकृत हो गयी और इसके कारण कुछ विद्वान 'जिनागमों' की प्राचीनता के विषय में शंका करते हुए संकोच नहीं करते है।

९. प्रो. याकोबी ने अपने आचारांग के संस्करण में कुछ शब्द-प्रयोगों में किसी-किसी व्यंजन को टेढा (italicise) किया है। ऐसा इसलिए करना पड़ा कि ताड़पत्रों की पुरानी हस्तप्रतों में तो मध्यवर्ती व्यंजन यथावत् मिलता था, परंतु परवर्ती कागज की प्रतों में उसी प्रकार के प्रयोगों में मध्यवर्ती व्यंजनों का लोप और मध्यवर्ती महाप्राण का 'ह' मिल रहा था। यह भेद दर्शाने के लिए उन्होंने इस पद्धति की शरण ली है। इससे कितना स्पष्ट हो रहा है कि परवर्ती प्राकृत व्याकरणों के नियमों के प्रभाव में न आकर मूल प्रतियों में जैसे पाठ मिल रहे थे वैसे ही पाठ प्रो. याकोबी ने अपनाये हैं। इससे कितना स्पष्ट हो रहा है कि मूल अर्धमागधी के प्रयोग किस प्रकार कालान्तर में महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित होते रहे हैं। उन्होंने हस्तप्रतों में उपलब्ध हो रहे किसी भी पाठ के साथ छेड़छाड़ नहीं की, परंतु जिस प्रकार के प्रयोग (पाठ) मिल रहे थे उन्हें विविध हस्तप्रतों के अनुसार वैसा ही अपनाया है। इस प्रकार उन्होंने हस्तप्रतों के पाठों की विश्वसनीयता बनाये रखी। उन्होंने अपने 'आचारांग' के संस्करण में अर्धमागधी प्राकृत भाषा के लिए परवर्ती प्राकृत व्याकरणकारों के मध्यवर्ती व्यंजनों के ध्वनि परिवर्तन के नियमों पर अत्यधिक भार नहीं दिया, क्योंकि उनको यह पूरी जानकारी थी कि अर्धमागधी भाषा एक प्राचीनतम प्राकृत है जो पालि भाषा के अधिक नजदीक है और किसी भी प्राकृत व्याकरणकार ने उसका व्यवस्थित और विस्तृत व्याकरण ही नहीं लिखा। ऐसी अवस्था में उसके मूल प्रयोगों को महाराष्ट्री में बदलना दोषयुक्त बन जाएगा। प्रो. याकोबी की यह सर्वथा योग्य और प्रशंसनीय पद्धति आज हमें यथातथ्य उचित मार्गदर्शन दे रही है, इसमें शंका को कोई स्थान नहीं है। प्रो. याकोबी की इस पद्धति का लाभ पाश्चात्त्य और भारतीय संपादकों ने क्यों नहीं उठाया और इससे कोई बोध-पाठ क्यों नहीं लिया यह एक आश्चर्य की बात है।

१०. देखिए ऊपर का पाद टिप्पण नं. ४।

यहां पर जिन-जिन संस्करणों का उपयोग किया गया है वे इस प्रकार हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. सूत्रकृ. या सूत्रकृ.= सूत्रकृतांग सूत्र, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, सं. मुनि जम्बूविजय, १९७८

१२. सूत्रकृ.पुण्यवि. =सूत्रकृतांग सूत्र, सं. मुनि पुण्यविजय,प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी. अहमदाबाद,

१३. दशवै.= दशवैकालिक सूत्र, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, ग्रंथमाला नं. १५, १९७७

१४. चूर्णियों में से जो भी पाठ उद्धृत किये गये हैं वे मूल ग्रंथ के संस्करण में पाद टिप्पणों में उद्धृत पाठान्तरों से लिये गये है।

१५. इससे यह दर्शाने का हेतु है कि आगे यहां पर अन्य प्रयोगों के सामने ग्रंथ के नाम का उल्लेख नहीं है। वे पाठ म.जै.वि. बम्बई से प्रकाशित सूत्रकृतांग के संस्करण में से ही उद्धृत किये गये हैं।

१६. प्राचीन आगमों के संस्करणों में हस्तप्रतों के पाठों के आधार पर जहां पर भी अघोष व्यंजनों का घोष व्यंजनों में परिवर्तन मिलता है वह शौरसेनी के प्रभाव के कारण नहीं हुआ है परंतु प्रारंभिक अवस्था में ही मागधी प्राकृत में घोषीकरण के प्रयोग यत्र—तत्र मिलने शुरु हो गये थे। यही प्रवृत्ति आगे जाकर शौरसेनी का मुख्य लक्षण बन गयी। वैसे भी अर्धमागधी प्राकृत मागधी और तत्पश्चात् की शौरसेनी के बीच (कालानुक्रम से भाषिक विकास) की अवस्था में अपना स्थान रखती है।

१७. अगस्त्यसिंह चूर्णी के उल्लेख के लिए देखिए म.जै.विद्यालय द्वारा प्रकाशित दशवैकालिक सूत्र (ग्रंथांक १५, ई. सन् १९७७) के प्रारंभ में उपयोग में लिए गये ग्रंथों और हस्तप्रतों की सूचि, पृष्ठ नं. ८९

१८. (i) अर्धमागधी प्राकृत की प्राकृत वैय्याकरणों ने अवहेलना की।

(ii) परिणामस्वरूप उसका कोई स्वतंत्र व्याकरण हमारे सामने नहीं आया।

(iii) हेमचन्द्राचार्य एक महान् जैन विभूति और विविध विद्याओं के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी उन्होंने अपने ही धर्म के प्राचीनतम शास्त्रग्रंथों यानी 'आगमों' की भाषा की अवहेलना की, जबकि अन्य प्राकृत भाषाओं के मुख्य—मुख्य लक्षणों पर यथायोग्य चर्चा की।

(iv) मौखिक परंपरा भ. महावीर की वाणी की मुख्य भाषा को सुरक्षित नहीं रख सकी।

(v) अर्धमागधी प्राकृत का अन्य प्राकृतों की तरह कोई व्याकरण ही नहीं रचा गया। अत: उसने अपनी विशिष्टता कालानुक्रम और स्थल परिवर्तन के कारण वहां की भाषाओं से प्रभावित होकर खो डाली।

(vi) आगम ग्रंथों के सम्पादकों के सामने यह बहुत बड़ी समस्या थी, अत:उनको महाराष्ट्री प्राकृत के ध्वनि-परिवर्तन के नियमों को ही अर्धमागधी पर भी विवशता से लागू करना पड़ा।

(vii) हस्तप्रतों के पाठों में इतनी अव्यवस्था और विविधता थी कि किस पाठ को मौलिक माना जाय यह समझना एक जटिल प्रश्न हो गया और तब फिर संपादकों को प्रचलित महाराष्ट्री प्राकृत के नियमों का ही विवश होकर सहारा लेना पड़ा और उसका परिणाम यह हुआ कि मूल अर्धमागधी प्राकृत महाराष्ट्री शब्दावली से महदंश में प्रभावित हो गयी । हस्तप्रतों में जो भी प्राचीन पाठ पालि भाषा के समान बच गये थे उन्हें कृत्रिम और बाद में बदले हुए तथा संस्कृत भाषा से प्रभावित होने की विद्वानों की एक भ्रान्त धारणा बन गयी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(viii) जिन लोगों को प्राकृत भाषाओं के विकास-क्रम का ऐतिहासिक और तुलनात्मक ज्ञान नहीं था ऐसे महानुभावों के द्वारा 'जिनागमों' का संपादन किया गया और इसके कारण भाषा के मूल स्वरूप को समझने की चिंता किये बिना हस्तप्रतों में जो भ्रष्ट पाठ थे उन्हें भी अपना लिया गया। ई.सन् पूर्व छठीं शताब्दी की भाषा (पालि और अर्धमागधी) का क्या स्वरूप था, यह हम सब भूल गये और भाषा विज्ञान के विकास के क्रम से अपरिचित लोगों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार प्राचीनतम जिन आगम ग्रंथों का सम्पादन किया, जिसकी भाषा पालिभाषा से मिलती जुलती थी, पालि के निकट की भाषा थी, अशोक, खारवेल और मथुरा के लेखों की भाषा का स्वरूप हमारे सामने था, परंतु कालान्तर में यह सब प्रकाश में आने के बाद भी उनकी भाषाओं की प्राचीनता के स्वरूप (महाराष्ट्री से बिल्कुल भिन्न) पर भी ध्यान दिये बिना आगमों की हस्तप्रतों में अनेक स्थलों पर उपलब्ध हो रहे परिवर्तित भ्रष्ट पाठों को ही मान्यता देकर जिनागमों की मूल भाषा को बदलने में कोई संकोच का अनुभव नहीं किया।

कहने को तो बहुत गौरव के साथ इस पर भार देते है कि पवित्र शास्त्र की भाषा में एक भी व्यंजन, मात्रा आदि का लोप, उसकी वृद्धि या परिवर्तन नहीं किया जाना चाहिए, लेकिन स्वयं जैन धर्माचार्यों ने ही इस नियम का पालन नहीं किया है। यह सब हो गया क्योंकि हमारे धार्मिक नेताओं को न तो भाषा का व्यवस्थित अध्ययन करने की रुचि थी और न ही उन्हें बदलते हुए काल और ज्ञान के विकास के साथ अपना परिचय बनाये रखने की तमन्ना थी।

आगम प्रभाकर मुनिश्री ने अपने ढंग से इस वास्तविकता को अपने कल्पसूत्र के प्रारंभ में बहुत ही विनयपूर्वक कह दिया है कि मौलिक अर्धमागधी के स्वरूप के विषय में कितना प्रमाद बरता गया और उसे आज एक खिचड़ी भाषा बना दिया गया है, फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और मौलिक भाषा की प्रस्थापना के लिए उपयोगी सुझाव भी प्रस्तुत किये हैं। देखना यह है कि जैन समुदाय में से कौन यह बीड़ा उठाने में अग्रसर होता है?

**–375, सरस्वती नगर,**
**आजाद सोसायटी के पास, अहमदाबाद–380015**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org